

आचार्य हरिभद्र की आठ योग दृष्टियाँ

श्री सतीश मुनिजी

खाचरौद, (म० प्र०)

वैदिक, बौद्ध और जैन-तीनों परम्पराओं में योग की महत्ता स्वीकार की गई है। यद्यपि प्रारम्भ में इसकी परिभाषाओं में कुछ अन्तर प्रतीत होता था, पर सातवीं-आठवीं सदी और उसके बाद सभी धाराओं ने पतंजल के योगसूत्र के अनुसार अध्यात्मपरक चित्तवृत्ति-निरोध की परिभाषा को स्वीकार किया। संक्षेप में, सभी परम्पराओं में योग का अर्थ, “समस्त आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली प्रक्रिया” या “समस्त आत्मगुणों को अनावृत करने वाली आत्माभिमुखी साधना” समझना चाहिये।

कुंदकुंद, समन्तभद्र, पूज्यपाद, सिद्धसेन आदि सभी प्रमुख जैन आचार्यों ने ध्यान के रूप में योग का ही वर्णन किया है। इसके पूर्व समवायांग में ३२ प्रशस्त योगों तथा उत्तराध्ययन में संवेग से लेकर अकर्मता तक ७३ पदों का वर्णन किया गया है। वर्णन की दृष्टि से यह पतंजल-विवरण से भिन्न प्रतीत होता है, पर भाव और अर्थ की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त समरूपता है। उत्तरवर्ती काल में हरिभद्र, हेमचंद्र, शुभचंद्र तथा यशोविजय गणि के योग विवरण मुख्यतः पतंजल योग पर आधारित हैं। इन सभी के वर्णनों की अपनी-अपनी विशेषता है। यह विशेषता ही इन आचार्यों की मौलिकता है।

जैनाचार्यों में आठवीं सदी के प्रमुख आचार्य हरिभद्र (७००-७७० ई०) सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने पतंजल का अनुसरण कर योग विषयक चार ग्रन्थ लिखे हैं : योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशास्त्र और योग विशिका। इनके षोडशक में भी कुछ प्रकरण योग से सम्बन्धित हैं, पर इनका वर्णन उपरोक्त चार ग्रन्थों में समाहित हो जाता है। इनमें प्रथम दो ग्रन्थ संस्कृत में हैं और शेष दो प्राकृत भाषा में हैं। योगबिन्दु में ५२७ श्लोक हैं, योगदृष्टि समुच्चय में २२७ श्लोक, योगशतक में नाम के अनुसार १०० तथा योग विशिका में २० गाथाएँ हैं।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में योग के विवरण में योगदृष्टियों की अपेक्षा विवेचना की है। यह विवेचना उनकी मौलिकता का प्रतीक है। उन्होंने इच्छा योग, शास्त्र योग एवं सामर्थ्य योग के रूप में योग प्रक्रिया के तीन स्तर बताये हैं और योग सन्यास को मुक्ति का कारण कहा है। हरिभद्र ने मानव की सत्य से सम्बन्धित धारणाओं को ‘दृष्टि’ कहा है। अज्ञानकाल की अवस्था ‘ओध दृष्टि’ या ‘सहज दृष्टि’ तथा ज्ञानकाल की अवस्था ‘योगदृष्टि’ या ‘सम्यग्-दृष्टि’ कहलाती है। उन्होंने अष्टांग योग के वर्णन के बाद उससे प्राप्त होने वाली आठ प्रकार की दृष्टियों का निरूपण किया है। अष्टांग योग के प्रचलित नाम निम्न हैं :

(१) यम : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

(२) नियम : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान।

(३) आसन : वैसे तो आसन अनेक प्रकार के बताये गये हैं, लेकिन उनमें ८४ विवेचनीय हैं। इनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन-इन चार को प्रमुख माना है।

(४) **प्राणायाम** : प्राणायाम में सहायक निम्न क्रियाएँ अनुष्ठेय हैं : नेति, धौति, नौलि, घर्षण (कपालभाति) और वाटक । इन्हें षट्कर्म कहते हैं ।

प्राणायाम के ९ भेद हैं : लोभ विणम, सूर्यभेदन, उज्जयी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, मूर्छा, भ्रामणी और प्रावनी ।

प्राणायाम में नौ प्रकार की विशिष्ट मुद्राएँ होती हैं : महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, विपरीतकरणो, ताड़न, परिधानयुक्त परिचालन, शक्तिचालन, खेचरी और बज्रौली ।

अष्टांग योग के ये चार अंग श्रम (हठ) साध्य होने से इन्हें हठ योग की संज्ञा भी दी जाती है ।

(५) **प्रत्याहार** :

(६) **धारणा** : इसकी दृढ़ता में सहायक निम्न मुद्राएँ अनुष्ठेय हैं : अगोचरो, भूचरो, चान्चरो, शाम्भवी, उन्मती, कुम्भक ।

(७) **ध्यान** : सालंबन ध्यान, निरालंबन ध्यान ।

(८) **समाधि** : संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ।

अष्टांग योग के इन चार अंगों की संज्ञा 'राजयोग' है । एक ही विषय या लक्ष्य पर ध्यान, धारणा और समाधि के निक्षेपित करने पर त्रितयी को 'संयम' कहा जाता है ।

योग के उपरोक्त अष्टांगों के वर्णन के साथ, हरिभद्र ने यौगिक विकास एवं कर्म-फल के क्षय तथा सम्यग् दृष्टि की प्राप्ति के आठ चरण बताये हैं । इन चरणों में क्रमिक आत्मशोधन होता है । इन चरणों को 'दृष्टि' कहा गया है । योग से सम्बन्धित होने से इन्हें 'योग दृष्टि' कहते हैं । इनकी संख्या भी आठ है—मित्रा, तारा, बला, दिप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा । इनका स्वरूप निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है कि ये दृष्टियाँ सत्-दृष्टा पुरुष का दृष्टि की विशदता एवं निर्मलता के विकास की क्रमिक प्रतीक हैं । इनको उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं तीक्ष्णता को समझाने के लिये उन्होंने इनकी तुलना सहज उपलब्ध वस्तुओं की प्रभा चमक (और उसके छात और प्रभाव) से की है । उन्होंने बताया है कि आठ योग दृष्टियाँ क्रमशः घास, कण्डे, काष्ठ की अग्नि की चमक, दीप, रत्न, तारक, सूर्य और चन्द्र को आभा के समान होती हैं । इन दृष्टियों से खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद, रुक् और आसंग नामक आठ दोष दूर होते हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बाध, मोमांसा, परिशुद्ध प्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति नामक सद्गुणों का सहचार हाता है । इनमें पहली चार दृष्टियाँ भ्रंशयुक्त हैं । इन्हें प्राप्त कर व्यक्ति इससे भ्रष्ट भी हो सकता है । पतन होता ही हो, ऐसा नहीं है । पतन की सम्भावना के कारण ये चार दृष्टियाँ सापाय-अपाय या बाधायुक्त कहीं जाती हैं । शेष दृष्टियाँ बाधा रहित हैं । योग दृष्टि समुच्चय के अनुसार इनका वर्णन यहाँ दिया जा रहा है ।

१. मित्रा दृष्टि—इस दृष्टि के प्राप्त होने पर साधक सत्-श्रद्धा को ओर उन्मुख हाता है, उसे बोध तो होता है पर वह मंदता लिये रहता है । मित्रा दृष्टि वाला साधक योग के प्रथम अंग, यम के विविध रूपों का प्रारम्भिक अभ्यास कर लेता है । व्यक्ति आत्मोन्नति के अचूक हेतुभूत योग वोजों का स्वीकार करता है ।

मित्रा दृष्टि में दर्शन मोह, सिध्दात्व या अविद्या के विपर्यास में आत्मगुणों का स्फुरण तथा अन्तर्विकास की दिशा में प्रथम उद्वेलन होता है । यह अध्यात्म विकास की यथावृत्तिकरण गुणस्थान की अवस्था का प्रमुखता का प्रतीक है । यह आध्यात्मिक योग की पहली दशा है जिसमें दृष्टि पूर्णतः तो सम्यक् नहीं हो पाती पर यहाँ से अन्तर्जागरण एवं गुणात्मक प्रगति की यात्रा का शुभारम्भ हो जाता है । इस दृष्टि में गुणियों के प्रति आदर, अनुकरण, दुखियों के प्रति कर्हणा एवं सत्कार्यों के प्रति रुझान उत्पन्न होता है ।

२. तारा दृष्टि—इससे योग का दूसरा अंग-नियम-सधता है । शोच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और आत्म चिन्तन जीवन में फलित होते हैं । आत्महित की प्रवृत्ति में उत्साह एवं तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इस दृष्टि

में साधक योग चर्चा में निरन्तर अभिरुचि लिये रहता है। वह योगनिष्ठ योगियों का नियमपूर्वक बहुमान करता है और उनकी यथाशक्ति सेवा के लिये तत्पर रहता है। सेवा से योगियों का अनुग्रह मिलता है, श्रद्धा का विकास होता है, आत्महित का उदय होता है, क्षुद्र उपद्रव मिट जाते हैं और साधक शिष्टजनों से मान्य होता है। तारा दृष्टि के साधक को जन्म, मरण रूप आवागमन क्रिया का अत्यंत भय नहीं होता। अनजाने में उससे कोई अनुचित क्रिया नहीं होती। वह मन में द्वेष भाव नहीं लाता है। वह सात्त्विक चिंतन की ओर क्रमशः बढ़ता है।

३. बला दृष्टि—इससे योग का तीसरा अंग-आसन-साधता है। इसमें सुखासन युक्त दृढ़ दर्शन प्राप्त होता है। तत्त्व श्रवण की तीव्र इच्छा जागती है एवं साधना में अक्षेप-क्षेप नामक दोष नहीं आने पाता। इस दृष्टि के विकास से असत् पदार्थों के प्रति तृष्णा की सहज प्रवृत्ति शून्य हो जाती है। साधक सर्वत्र सुखमयता का अनुभव करने लगता है। साधक के जीवन में स्थिरता का ऐसा सुखद समावेश होता है कि उसकी समस्त क्रियायें निर्बाध होने लगती हैं। उसके सारे कार्य मानसिक सावधानी लिये रहते हैं। बला दृष्टि के विकास से योगी के ध्यान, चिन्तन, मनन आदि शुभ कार्यों में विक्षेप नहीं आता। वह शुभ समारम्भमय उपक्रम में कुशलता प्राप्त करता जाता है। वह साध्य प्राप्ति के लक्ष्य को ओर सदैव प्रयासरत रहता है। वह पापपूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग कर देता है। इससे याग साधना में आने वाले विघ्नों का अभाव हो जाता है। इसके फलस्वरूप उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय सधता है।

४. दिप्रा दृष्टि—इससे योग का चौथा अंग प्राणायाम सधता है। इसमें अन्तरतम में ऐसे प्रशान्त रस का सहज प्रवाह बहता रहता है कि चित्त याग से विरत हो नहीं होता। इससे तत्त्व-श्रवण सधता है, केवल बाहरी कानों से हो नहीं, अपितु अन्तःकरण से यह रुचि हाता है। इसमें अन्तर्ग्राहकता का भाव ता उदित हाता है, पर सूक्ष्म बाध प्राप्त करना अभी बाकी रहता है। दिप्रा दृष्टि के साधक का मानसिक और बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह धर्म को निश्चित रूप से प्राणों से बढ़कर समझता है। प्राणघातक संकट आने पर भी वह धर्म को नहीं छोड़ता। यह साधक सात्त्विक भावों से आप्लावित हो जाता है। वह तत्त्वश्रवण के माध्यम से अपने कल्याण के प्रति सजग रहता है। इससे गुह्यभक्ति रूप सुख प्राप्त होता है। इससे लौकिक और पारलौकिक—दोनों हित सधते हैं।

५. स्थिरा दृष्टि—इस दृष्टि से योग का प्रत्याहार अंग सधता है। श्रुत, तर्क और आत्मानुभव से श्रद्धा दृढ़ होती है। प्रत्याहार से स्व-स्व-विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर इन्द्रियाँ और चित्त स्वरूपानुसार प्रतीत होने लगती हैं। इससे साधक के द्वारा किये जाने वाले कृत्य, निर्भ्रान्त, निर्दोष तथा सूक्ष्म बाधयुक्त होते हैं। इस दृष्टि में 'वेद्य-संवेद्य पद' की प्रधानता आ जाती है। यह दृष्टि दो प्रकार की मानी गयी है—निरतिचार और सातिचार। निरतिचार दृष्टि में अतिचार या विघ्न नहीं आने पाते। इसमें श्रद्धा प्रतिपातरहित एवं अवस्थित रहती है। सातिचार दृष्टि में दर्शन अनित्य तथा अनवस्थित रहता है। स्थिरा दृष्टि के साधक सम्यक्-दृष्टि पुरुष के अज्ञानान्धकार की ग्रन्थि का विभेदन हो जाता है। अतः उसे समस्त सांसारिक चेष्टायें बालकों द्वारा खेलों में बनाये जाते घर के समान प्रतीत होती हैं। इस दृष्टि के योगी में शासन-प्रसूत विवेक जागृत होता है। वह देह, घर, परिवार, वैभव आदि बाह्य भावों को मृगतृष्णा, गन्धर्व नगर या कल्पना के रूप में मानता है। उसे सांसारिक भावों को वास्तविकता का तथ्य सत्प्रपूर्ण दर्शन हो जाता है। इस दृष्टि में स्व-पर-भेद-विज्ञान प्राप्त विवेकी एवं धार साधक प्रत्याहार परायण होते हैं और धर्मासाधना में आने वाली बाधाओं के परिहार में प्रयत्नशील रहते हैं।

६. कांता दृष्टि—इस दृष्टि में सम्यक् दर्शन अविच्छिन्न हो जाता है। इस दृष्टि में स्थित योगी धर्म को महिमा तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सभी को प्रिय होता है। वह धर्ममय हो जाता है। इस दृष्टि के योगी की आत्मधर्म भावना इतनी दृढ़ होती है कि वह शरीर से अन्यान्य कार्यों में लगे रहने पर भी मन से सदैव सद्गुरुप्रवीण आगम में तल्लीन रहता है। वह सहज स्वभावो ज्ञान से युक्त होकर सदैव आत्मभाव की आर आकृष्ट रहता है। वह

अनासक्त हो जाता है। इससे सांसारिक भोग उसे जन्म-मरण चक्र में भटकाने वाले नहीं होते। इस दृष्टि में स्थित साधक सदैव तत्त्वचिन्तन तथा तत्त्वमीमांसा में लगा रहता है। इससे वह मोह व्यास नहीं होता। उसे यथार्थ बोध प्राप्त हो जाने से उसका उत्तरोत्तर आत्महित सधता है।

७. प्रभा दृष्टि—प्रभा दृष्टि प्रत्यक्षतः ध्यान प्रिय है। इसमें योगी प्रायः ध्यानरत रहता है। इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान सधता है। राग, द्वेष, मोह-त्रिदोष रूप भाव रोग यहाँ बाधा नहीं देते। यहाँ तत्त्वमीमांसक योगी को तत्त्वानुभूति प्राप्त होती है। उसका झुकाव सहज सत्प्रवृत्ति की ओर रहता है। इस दृष्टि में ध्यान जन्य सुख का अनुभव होता है। यह रूप, शब्द, स्पर्श आदि काम-विषयों का जीतने वाला है। यह ध्यान-सुख विवेक बल की तोब्रता से उत्पन्न होता है। इसमें प्रशांत भाव की प्रधानता रहती है। इसकी सत्प्रवृत्ति की संज्ञा असंगानुष्ठान कहलाती है। यह चार प्रकार का माना गया है : प्रीति, भक्ति, वचन और असंग। समग्र प्रकार के संग, आसक्ति या संस्पर्श से रहित आत्मानुचरण असंगानुष्ठान है। इसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है। इससे शाश्वत पद प्राप्त होता है। यह महापथ प्रयाण का अन्तिम पूर्वबिन्दु है।

८. परादृष्टि—इससे योग का आठवाँ अंग-समाधि-सधता है। इसमें अ-संगता पूर्ण होती है। इसमें आत्मतत्त्व की सहज अनुभूति होती है। तदनुरूप ही सहज प्रवृत्ति एवं आचरण होता है। इसमें चित्त प्रवृत्ति स्थिर हो जाती है और उसमें कोई वासना नहीं रहती। इस दृष्टि में योगी निरतिचार होता है। वह उच्च अवस्था प्राप्त योगी होता है और आत्म-विकास की चरम अवस्था प्राप्त करता है। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं अयोगी हो जाता है।

इन्हीं दृष्टियों के तारतम्य में हरिभद्र ने योगियों को चार कोटियों में वर्गीकृत किया है : गोत्र योगी, कुल-योगी, प्रवृत्तचक्र योगी एवं निष्पन्न योगी। प्रथम श्रेणी के योगी कभी पूर्ण आत्मलाभ नहीं कर सकते और चतुर्थ श्रेणी के योगी आत्मलाभ कर चुके हैं। फलतः योग विद्या केवल द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के लिए ही मानी जाती है।

प्रशंसनीय

जिस प्रकार मंत्री से रहित राज्य, शस्त्र से रहित सेना,
जिस प्रकार नेत्र से रहित मुख, मेघ से रहित वर्षा, उदारतारहित धनी,
जिस प्रकार धी-बिन भोजन, शील बिन स्त्री, प्रताप बिन राजा,
जिस प्रकार भक्ति बिन शिष्य, दांत बिन हाथी, प्रतिमा बिन मन्दिर,
जिस प्रकार वेगरहित घोड़ा, चन्द्ररहित रात्रि, गन्धरहित पुष्प,
जिस प्रकार जलरहित सरोवर, छाया-रहित वृक्ष, गुणरहित पुत्र,
जिस प्रकार चारित्ररहित मुनि प्रशंसनीय नहीं होता,
उसी प्रकार, धर्म बिन मनुष्य भी प्रशंसनीय नहीं होता।
धर्म कामधेनु है, चिन्तामणि है, कल्पवृक्ष है, अविनाशी निधि है,
धर्मलक्ष्मी का वशीकरण मन्त्र है, श्रेष्ठ देवता है, सुख सरिता का स्रोत है।

—सर्वोपयोगिलेखसंग्रह